

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ४३

अंक - अप्रैल २०१८ - मार्च २०१९

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये

पता - Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,

Email : jainbhawan@rediffmail.com

Website : www.jainbhawan.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --

Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from
P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655
and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street
Kolkata - 700 006 Phone : 2241-1006

संपादन

डॉ. लता बोथरा

पी-एच.डी., डी.लिट्



अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	आदिकाल का साहित्य और गद्य भाषा	कामता प्रसाद	५
२.	मध्यकाल का हिन्दी जैन साहित्य	कामता प्रसाद	९
२.	आनंदघन और यशोविजय	कुमारपाल देसाई	२५
३.	सोने के कंगन	श्री केवल मुनि	३५

ISSN 2277 - 7865

Composed by:

Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

आदिकाल का साहित्य और गद्य भाषा ।

कामता प्रसाद

(11वीं से 14वीं शताब्दि)

संघपतिसमरा-रास एक चरित्र गाथा काव्य है। अणिहल्लपुर पट्टन में ओसवाल जाति के धनी सेठ समराशाह रहते थे। उन्होंने सं. 1371 में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार अगणित धन व्यय करके किया था और संघ चलाया था। इसीलिए वह संघपति कहलाये थे। उनकी इस दानवीरता का वर्णन इस रास में किया गया है। इसे श्वेताम्बरीय नागेन्द्रगच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य अम्बदेव ने रचा था। इस रासा-काव्य के उद्धरण हम पहले लिख चुके हैं। एक पद्य और देखिये—

निसि दीनी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु ।
पावल पारु न पामिपए वेगि वहइ सुखासणु ।
आगेवाणिहि संचरण संघपति साहु देसलु ।
बुद्धिवंतु यहु पुंनिवंतु परिकमिहि सुनिश्चलु ।।

इन पद्यों की रचना चारणीय रासों से सरल और सुबोध है। इस प्रकार आदि-काल के करिपय काव्यों की रचना का यह संक्षिप्त परिचय है। आइये पाठक, हिन्दी के प्राचीन गद्य पर भी एक दृष्टि डाल लें।

हिन्दी के गद्य-साहित्य पर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि पूर्व युग में गद्य को साहित्यिकरूप मिला ही नहीं। खुसरो और कबीर के पहले उस समय की खड़ी बोली में गद्य-

साहित्य लिखा गया हो, यह पता नहीं चला। अलबत्ता कवि गंग आदि ने कुछ गद्य उस भाषा का लिखा था, जिसे विद्वज्जन साहित्यिक नहीं मानते। साहित्य का आधार नये युग तक पद्य ही रहा¹ किन्तु हिन्दी जैन साहित्य के भंडार को टटोलने पर हमें आदिकाल से ही हिन्दी-गद्य के दर्शन होते हैं। हिन्दी गद्य का प्रयोग धर्म साहित्य के निर्माण के लिये तेरहवीं शताब्दि में किया जाने लगा था। इस काल की गद्य-रचनाओं के उदाहरण देखिये—

1 **जगत्सुंदरीप्रयोगमाला** नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह तेरहवीं शताब्दि की रचना अनुमान की गई है। उसमें कहीं-कहीं पर गद्यभाषा का भी प्रयोग किया गया है। एक नमूना देखिये—

सुल घाटी काठे मंत्र—(शाकिन्यधिकारे)

कुकासु बाढहि उरामे देवकउ सुज्जाहासु खाडतु, (सूर्यहास खंड)
कुकासु बाढहि हाकउ कुरहाडा लोहा, राणउ आरणु वम्मी
राजी काठवत्तिम साण कीधिणि जे गेउरिहि मंत, ते रुप्पि-
णिहिं तोडउ सुलूके मोडलं सूलु घाटीके मोडउं, घाटी तोडउं
काटेके मोढउँ काठे सूल घाटी! (कांटे मंत्र-उडमुड स्फुट स्वाहा
—(अनेकान्त, वर्ष 2 पृ. 615)

2 स्व. श्री दलालजी को पाटण के भंडार से चौदहवीं शताब्दि की कतिपय गद्य रचनायें मिली थीं, जिनको उन्होंने प्राचीन गुजराती अनुमान किया था, परन्तु उन रचनाओं की भाषा का साम्य प्राचीन हिन्दी से अधिक है। वास्तव में वह हिन्दी की ही रचनायें हैं उनके रचयिताओं के विषय में दलालजी ने कुछ लिखा नहीं है। पहले ही सं. 1330 की ताड़पत्रों पर लिखी हुई आराधना नामक रचना नमूना देखिये—

अ—परमेश्वर अरहंत सरणि, सकलकर्मनिर्मुक्त सिद्ध सरणि, संसार-परीवार-समुत्तरण-यान-पात्र-महा-सत्त्व साधु करणि, सकल-पाप-पटल-कवल-नकला-कलितु-केवलि-प्रणीतु धम्मु सरणि।

ब—सं 1340 की लिखी हुई अतिचार नामक कृतिका यह अंश देखिये—

कालवेला पढ्यं विनयहीणु बहुमानहीणु उपधानहीणु गुरुनिहण्य अनेराकणाइं पढ्यं

स—सं. 1358 का गद्य इस प्रकार है—

पहिलउ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थकर सर्वपापक्षयंकर हउं नमस्करउं।

—(प्राचीन गुर्जरकाव्यसंग्रह, पृ. 86-88)

इन उल्लेखों की भाषा-सरणी खड़ी बोली की ओर झुकी हुई सी है। जिनमें संस्कृत के शब्दों का भी बाहुल्य है। आधुनिक हिन्दी भी तो ऐसी ही है। अतः गद्य के विकासक्रम के अध्ययन के लिये भी हिन्दी जैन साहित्य एक अपना विशेष दृढ़ महत्त्व रखता है।

आदिकाल के साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए हम निःसंकोट कह सकते हैं कि उसकी अपनी विशेषतायें हैं। अपभ्रंश भाषा के जैन साहित्य का स्थान तो भारतीय साहित्य में निराला है ही और उसा अध्ययन हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं की उत्पत्ति के लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह कहना असंगत न होगा कि अपभ्रंश प्राकृत भाषा आदिकाल के प्रारंभ में बोलचार की भाषा थी और वही समयानुसार परिवर्तित होकर पुरानी हिन्दी बन गयी। पाठक यह देखेंगे कि कुछ दूर चलकर पुरानी हिन्दी जब मुसलमानों के संपर्क में आयी तो किस प्रकार खड़ी बोली के रूप में परिवर्तित हो गयी। इस काल का हिन्दी जैन साहित्य चरित्र-कथा प्रधान रहा है, यह

पहले लिखा जा चुका है। साधारणतः हिन्दी जैन साहित्य-ग्रन्थ मुख्यतः चार विषयों में विभक्त किये जा सकते हैं— 1. तात्त्विक अथवा सैद्धान्तिक ग्रन्थ, 2. पुराण-कथा-चरित्रादि ग्रन्थ, 3. पूजा पाठ और 4. पद-भजन विनती आदि। किन्तु आदिकाल में जो जैन साहित्य रचा गया वह साधारण जनता की हित-दृष्टि को रखकर पुरानी हिन्दी में रचा गया था, इसलिये ही उसमें चरित्र ग्रन्थों की मुख्यता रही। कुछ सुभाषित-ग्रन्थ भी रचे गये। तात्त्विक ग्रन्थों की पूर्ति अपभ्रंश प्राकृत भाषा में रचे हुये ग्रन्थों से होती रही। गृहस्थों की जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिये इन चरित्र-ग्रन्थों में ही पर्याप्त तात्त्विक सामग्री मौजूद थी। अतः उस समय तात्त्विक ग्रन्थों को उतनी आवश्यकता ही नहीं थी। नवयुगकाल में तात्त्विक ग्रन्थों की माँग साधारण जनता में बढ़ी और तब जैनों ने संस्कृत और प्राकृत भाषा के सिद्धान्त ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद उपस्थित करके हिन्दी में जैन तत्त्वज्ञान का एक विशाल साहित्य तैयार कर भारत के प्राचीन तत्त्वज्ञान, ज्योतिष, गणित, न्याय आदि शास्त्रों की अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकती है। श्वेताम्बर जैन समाज ने अपने **आगम ग्रन्थों** को इस शताब्दि में हिन्दी रूप दिया है। इसके पहले श्वेताम्बर विद्वान स्वतंत्र रचनायें रचा करते थे। इस काल के रचे हुए पूजा और स्तोत्र ग्रंथ प्रायः नगण्य हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उस समय जनसाधारण प्राचीन प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में रची हुई पूजाओं और स्त्रोतों को कण्ठाग्र करते थे। जैनियों में आज भी प्राचीन स्तोत्र आदि की मान्यता अधिक है। किन्तु आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य की उत्पत्ति की जड़ विद्यमान होने एवं हिन्दी गद्य के प्राचीन रूप को उपस्थित करने में निहित है। जैन भंडारों की खोज करने पर इस काल की अन्य रचनाओं के उपलब्ध होने की संभावना है।

मध्यकाल का हिन्दी जैन साहित्य

(15वीं से 17वीं शताब्दि)

क्रान्ति के पश्चात् शान्तिमय वातावरण का होना स्वाभाविक हैं। हिन्दी के उत्पत्तिकाल के आदि में क्रान्ति की आँधी चल रही थी। मुसलमानों के आक्रमणों और विजयों एवं राजपूतों के पारस्परिक संघर्ष और उनके पतन से प्रत्येक दिशा में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल हो रही थी। किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न रही। विजेता मुसलमान भारत में बस गये थे। वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। लड़ते-लड़ते वे थक चले थे और चाहते थे, आराम की सांस लें। उधर राजपूत लोग भी क्षीण-शक्ति हो गये थे। जब भुजविक्रम की ही हीनता थी, तब भला चारण-कवियों के वीर-रस से आप्लावित गीत किस पौरुष को उभारते? परिणामतः समय ने फिर पलटा ख़ाया। भारत में फिर एक बार धार्मिक लहर आयी। साहित्य-संसार उससे अछूता न रहा। हिन्दी साहित्य-जगत् में यह काल धार्मिक काल कहलाया। पहले ही निर्गुण पन्थ ने अपने ज्ञान का प्रसार किया। इस पन्थ का उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करना था। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद में हिन्दी और मुसलमानों की एक दूसरे के निकट आने की संभावना देखी थी। वे लोग नाम की उपासना करते और वैयक्तिक धर्मसाधना को आवश्यक समझते थे। यद्यपि उनके अलग-अलग सम्प्रदाय थे, परन्तु वे एक दूसरे के विरोधी न थे। हिन्दुओं ने ही मुख्यतः निर्गुण पन्थ को चलाया था। इसके प्रत्युत्तर स्वरूप मुसलमान सूफी कवियों की ओर से प्रेममार्गी

शाखा का जन्म हुआ। इन कवियों के काव्य की विचारधारा भारतीय वेदान्त के निकट थी। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य संसार में एक नया परिवर्तन उपस्थित हुआ। निर्गुणपंथ में कबीर, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि सन्त-कवि उल्लेखनीय हैं। प्रेममार्गी शाखा को सुशोभित करनेवाले सूफी कवि कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उस्मान आदि हुए।

भारत के इस परिवर्तन-प्रभाव से जैनी अछूते न रहे,—वह भी यहाँ के निवासी थे और अपने पड़ोसियों से पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन जगत् में इस परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वांगीण हुई। किन्तु हमें यहाँ पर साहित्यिक-संक्रमण देखना अभीष्ट है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जैन साहित्य प्रारंभ से ही धर्मप्रधान रहा है। अतएव यह युगकालीन परिवर्तन उसके लिये अनूठा नहीं था। यद्यपि चरित्र-ग्रन्थ लिखने की पूर्व-प्रचलित शैली इस समय भी विद्यमान रही, परन्तु तात्त्विक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में रचा गया। कविवर बनारसीदासजी तात्त्विक साहित्य के निर्माण करनेवालों में प्रमुख विद्वान हैं। उनकी रचनायें अध्यात्म और वेदान्त का रसास्वादन करने के लिये अपूर्व हैं। अध्यात्मवाद के उपासक बनकर लोग व्यावहारिक मतभेद को भुलाने का उद्योग करते थे। मूलतः सब ही जन जीव-मात्र में परमज्योति परमात्मा की झलक को चमकती हुई देखते थे। जैन कवि ने स्पष्ट कहा था—

एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोई।
मनकी दुविधा मानकर, भये एकसों दोड़।।
दोऊ भूले भरममें, करें वचन की टेक।
राम राम हिन्दू कहें, तुरुक सलामालेक।।
इनकै पुस्तक वांचिए, वे हू पढ़े कितेव।
एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे शोभा ज़ेय।।

तिनकी दुविधा—जे लखें, रंग बिरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिये, घट घट अन्तर राम।।
यहै गुप्त यह है प्रगट, यह बाहर यह मांहे।
जब लग यह कछु ह्वै रहा, तब लग यह कछु नाहिं।।

कवि ने इसमें एक पंथ दो काज की उक्ति चरितार्थ की है। उसे अध्यात्मवाद का कथन करना अभीष्ट है। परन्तु साथ ही वह राजनीतिक ऐक्य की आवश्यकता को भी दृष्टि से ओझल नहीं कर सका है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य समय की माँ थी। कवि ने उसकी आवश्यकता की पुष्टि करके उस समय की साहित्यिक प्रगति में चार चाँद लगा देने का काम किया है।

इस काल की साहित्यिक भाषा प्रारंभ में अपभ्रंश प्राकृत की ओर झुकी हुई थी; परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों उसमें अपभ्रंश प्राकृत भाषा के शब्दों और मुहावरों का स्थान संस्कृत भाषा लेती गयी। इस प्रकार इस काल में भाषा का सुधार पूर्ण रूप से हो गया था, बल्कि मुसलमानों के मुख से निकली हुई हिन्दी का भी कुछ प्रभाव इस नूतन हिन्दी पर पड़ने लगा था।

अब यहाँ पर इस काल की रचनाओं और उनके रचयिताओं का परिचय दिया है। परिचय संक्षिप्त है और यहाँ यह संभव नहीं, कि इस काल की सब ही रचनाओं का विस्तार से उल्लेख किया जा सके।

पन्द्रहवीं शताब्दि की रचनाओं में आदि काल की रचनाओं से अधिक सामञ्जस्य है। प्रेमीजी ने इस शताब्दि की रची हुई तीन कृतियों, अर्थात् गौतमरासा ज्ञानपंचमी चउपई और धर्मदत्तचरित्र का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ का पता कहीं से नहीं चलता है। गौतमरासा को संवत् 1412 वि.में उदयवंत

अथवा विजयभद्रनामक श्वेताम्बर साधु ने रचा था। यह ग्रन्थ छप भी चुका है। गौतमस्वामी के रूप वर्णन का एक छंद देखिये—
सात हाथ सुप्रमाण देह रुपिहिं रंभावरु।।
नयणवयण करचरणि जिण वि पंकज जलिपाढिय।
तेजिहि तारा चंद सूर आकासि भयाढिय।।
रुंविहि मयणु अनंग करवि मेल्हिउ निदाडिय।
धीरिस मेरु गंभीरि सिंधु चंगमि चय चाडिय।।

अर्थात्—गौतमस्वामी के शरीर की ऊँचाई सात हाथ की थी और उनका रूप रंभा के रूप से भी श्रेष्ठ था। अपने नेत्रों, वचनों, हाथों और चरणों की शोभा से पराजित करके उन्होंने पंकजों को जल में पैठा दिया था। अपने तेज से उन्होंने ताराओं और चन्द्र-सूर्य को आकाश में भ्रमाया था। अपने रूप से उन्होंने मदन को अनंग (बिना अंग का) बना के निर्द्धाटित कर दिया—निकाल दिया। वह मेरु के समान धीर और सिन्धु के समान गंभीर थे। अच्छे चरित्र के थे। इस प्रकार यह रचना अनेक अलंकारों से विभूषित है और इसमें भगवान महावीर के समय की सामाजिक स्थिति का सुन्दर चित्रण हुआ है। फलतः यह एक सुन्दर ऐतिहासिक रचना है।

2. ज्ञानपंचमी चउपई मगधदेश में विहार करते समय जिन उदयगुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्वणू ने संवत् 1423 में रची थी। यह एक धार्मिक रचना है। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य दर्शाया गया है। उदाहरण देखिये—

चिंतासायर जबि नरु परइ, धर धंधल सयलइ वीसरइ।
कोहु मानु माया मद मोहु, जर झंपे परियउ संदेहु।
दान न दिन्नउ मुनिवर जोगु, ना तप तपिउ न भोगेउ भोगु।
साक्यघरहि लियउ अवतारु, अनुदिनु मनु चिंतहु नवकारु।

इस छंद में प्रचलित श्रावक के धार्मिक कर्तव्य का संकेत होता है। निस्सन्देह कवि ठीक कहते हैं कि चिन्तासागर में पड़कर पुरुष घर के समस्त धंधों को भूल जाता है। क्रोध, मान, माया, मद, मोह में यह जलता है और सन्देह में पड़ता है। इसलिए ही वह मुनिवरों के योग्य न दान दे सकता है, न तप तपता है और न भोग ही भोग सकता है। कवि कहते हैं कि यह श्रावक के घर जन्म लिया है तो आये दिन नमोकार मंत्र का चिंतवन करो। श्रावक को मुनियों को दान देना चाहिये, इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये और जिनेन्द्रदेव की उपासना में समय बिताना चाहिये।

3. धर्मदत्तचरित्र का उल्लेख प्रेमीजी ने मिश्रबन्धुओं के इतिहास के आधार पर किया है। उसे सं. 1486 में दयासागर सूरि ने रचा था।

सोलहवीं शताब्दी में साहित्यप्रगति को कुछ उत्तेजना मिली प्रतीत होती है। इस समय सम्राट् अकबर का शान्तिपूर्ण शासनचक्र चल रहा था। सम्राट् अकबर स्वयं विद्यारसिक और अध्यात्म धर्म-प्रेम थी। उन्होंने स्वयं राज्य की ओर से साहित्य निर्माण के कार्य को प्रोत्साहन दिया था। उनका अपने विशाल पुस्तकालय था। अनेक जैन विद्वानों ने स्वयं सम्राट् के लिये संस्कृतभाषा की कई पुस्तकें निर्माण की थी। हिन्दीभाषा साहित्य को भी उनके समय में प्रगति मिली थी। हिन्दीभाषा साहित्य को भी उनके समय में प्रगति मिली थी। जैनसाहित्य जगत् में इस शताब्दी की रची हुई रचनायें अनेक मिलती हैं— वे हैं भी विविध विषयों की और विभिन्न रसों से आप्लावित प्रेमीजी ने इस शताब्दी की कृतियाँ 1. ललितांगचरित्र, 2. सारसिखामनरास, 3. यशोधरचरित्र, 4. कृपणचरित्र और 5. रामसीताचरित्र गिनाई हैं। ललितांगचरित्र को विक्रम संवत् 1561

में श्री शान्तिसूरि के शिष्य ईश्वर सूरिने सोनाराय जीवन के पुत्र पुंज मंत्री की पार्थना पर बनाया था। उस समय मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़) में बादशाह ग्यासउद्दीन के पुत्र नासिरुद्दीन शासनाधिकारी थे। मलिक माफर संभवतः उनके प्रतिनिधि थे। पुंज उनके मंत्री थे। प्रेमीजी कहते हैं कि इसकी रचना बड़ी सुन्दर है, यद्यपि उसमें प्राकृत और अपभ्रंश का मिश्रण बहुत है। उदाहरणरूप उसके थोड़े से पद्य देखिये—

महिमहति मालवदेस, धण-कणयलच्छि-निवेस।

तिहं नयर संडवदुग्ग, अहि नवउ जाण कि सग्ग।।67।।

तिहं अतुलबल गुणवंत, श्रीण्याससुत जयवंत।

समरत्थ साहसधीर, श्री पातसाह निसीर।।68।।

तसु रज्जि सकल प्रधान, गुरु रूपरयण निधान।

हिन्दुआ राय वजीर, श्रीपुंज मयणह वीर।।69।।

सिरिमाल-वंशवयंस, मानिनी-मानस-हंस।

सोनाराम जीवनपुत्त, बहुपुत्त परिवरजुत्त।।70।।

श्री मलिक माफर पडि, हयगय सुहड बहु चट्टि।

श्रीपुंज पुंज नरिंद, बहु कवित केलि सुछन्द।।71।।

नवरस बिलासड लोल, नवगाह गेय कलोल।

निज बुद्धि बहुअ विनाणि, गुरु धम्मफल बहु जाणि।।72।।

इय पुज्यचरिय प्रबन्ध, ललिअंग नृपसंबंध।

पहु पास चरियह चित्त, उद्धरिय एह चरित्त।।73।।

सारसिखामनरास संवत् 1548 की रचना है और यशोधरचरित्र उसके बाद संवत् 1581 में रचा गया था, जिसे फफोंदू ग्रामनिवासी गौरव दास नामक दिगम्बर जैन विद्वान ने रचा था।

कृपणचरित्र संवत् 1580 में कवि ठकरसी द्वारा रचा गया

था। इस चरित्र का कथानक बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद है। प्रेमीजी ने इसके विषय में लिखा है कि यह छोटा-सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य बंबई दिगम्बर जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डार में एक गुटके में लिखा हुआ मौजूद है। इसमें कवि ने एक कंजूस धनी का अपनी आँखों देखा हुआ चरित्र 35 छप्पय छन्दों में किया है। कवि कहते हैं— जिसौ कृपणु इक दीटु, तिसौ गुणु तासु बखाण्यौ। कृपणता का दुखद परिणाम दर्शाकर कवि ने बतलाया है कि स्वरचियो त्याहं जीत्यौ जनमु और जिह संचयो तिह हारियो जनम जीवन-साफल्य न्यायपूर्वक धन कमाकर उसे नियमित रूप से खर्चने में है—धनको गाड़ रखने में मनुष्य न स्वयं उससे लाभ उठाता है और न उसे दूसरे के काम आने देता है। पाठक इस कथा का प्रारम्भिक अंश पढ़िये—कवि किस रोचक रूप में कृपण का चित्रण करता है—

कृपणु एक परसिद्धु नयरि निवसंतु निलक्खणु।
 कही करम संजोग तासु घरि, नारि विचक्खणु।।
 देखि दुहूकी जोड़, सयलु जगि रहिउ तमासै।
 याहि पुरिषकै याहि, दई किम दे इम मासै।।
 वह रह्यौ रीति चाहै भली, दाण पुज्ज गुण सील सति।
 यह दे नखाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति।।
 गुरु सौ गोडि न करै, देव देहुरी न देखै।
 मांगणि भूलि न देइ, गालि सुनि रहै अलेखै।।
 सगी भतीजी भुवा बहिणि, भाणिजी न ज्यावै।
 रहै रूसड़ौ माड़ि, आप न्यौतौ जब आवै।।
 पाहुणौ सगौ आयौ सुणै, रहइ छिपिउ मुहु राखि करि।
 जिव जाय तबहि पणि नीसरइ हम धनु संच्यों कृपण नर।।

एक दिन कृपण की पत्नी ने अपने पति के साथ गिरिनार की यात्रा को चलने के लिये कहा। कृपण सेठजी सुनते ही लाल-पीले हो गये। पति-पत्नी में बहुत देर तक वाद-विवाद हुआ। सेठानी ने धन की सफलता दान और भोग से बतलाई, परन्तु सेठ ने उसका विरोध किया। अन्त में सेठजी तंग आकर कुछ काल के लिये घर से चले गये। जब लौटे तो युक्ति से पत्नी को उसके पीहर भेज दिया। बेचारी को जाना पड़ा। इधर यात्रियों का संघ गिरिनारजी गया। उस जमाने में बैलगाड़ियों से यात्रा की जाती थी—वणिक लोग व्यापार भी करते जाते थे। संघ यात्रा के लौटा। कृपण ने देखा कि कई लोग मालामाल होकर आये हैं। यह देखकर उसे बड़ा दुख हुआ और पछताने लगा कि हाय, मैं क्यों नहीं गया? इसी शोक में वह खाट से लग गया। लोगों ने कहा, सेठजी, दान-पुण्य कर लो वह बोला, मैं सारे धन को साथ ले जाऊंगा। और लक्ष्मी देवी से साथ चलने के लिये प्रार्थना की, परन्तु लक्ष्मी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि मुझे साथ ले चलने के जो दान-पुण्य आदि उपाय थे, वह तुमने किये नहीं। इसलिए मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकती। बेचारा कृपण संक्लेश परिणामों से भरा और नरक के दुख भोगने लगा। इधर लोगों ने उसके मरने पर खुशी मनाई और कुटुम्बी जनों ने उसके धनका उपभोग किया। इसी लिये कवि ने ठीक सलाह दी है कि जीवनसाफल्य के लिये धन को खरचना उत्तम है। रचना कवि ने आँखों देखी घटना पर की है, इसलिए उसमें जीवट है।

पं. दीपचन्दजी पाण्ड्या को अजमेर जिले के देराटू नामक गाँव के जैन मंदिर वाले शास्त्रभंडार में एक गुटका वि. सं. 1576 का लिखा हुआ मिला था, जो उनके पास है। इस गुटका में निम्नलिखित रचनायें पुरानी हिन्दी की प्रतीत होती हैं—

1. सोड्डलु श्रावक कृत आगम के छप्पय, जिनमें 24 दंडकों का वर्णन है।

2-3. विनयचन्द्र मुनिकृत कल्याणकरासु और चूनड़ी।

4. पंचमेरु संबंधी बीस विहरमाणतीर्थकर जयमाला।

5. भ. जयकीर्ति कृत पार्श्व भवान्तर के छंद।

6. भद्रबाहु रास के अन्तर्गत चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न।

चूनड़ी ग्रन्थ के कर्ता माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य भ. विनयचन्द्र हैं, जिन्होंने उसे गिरिपुर में रहते हुए अजय नरेश के राजविहार में बैठकर रचा था। इसमें जैनधर्म और संघ सम्बन्धी अनेक चर्चाओं का सांकेतिक रूप में संग्रह किया गया है, जो एक स्मृतिपट का काम देती है। इसीलिए उस पर संस्कृतभाषा में एक विस्तृत टीका भी बनाई गई है। **चूनड़ी** एक प्रकार की रंगीन ओढ़नी या दुपट्टे को कहते हैं। जिसे रंगरेज या छीपी रंग-बिरंगी बूटें डाल और बेल बनाकर रंगते हैं। चूनड़ी का दूसरा नाम चूर्णी भी है जिसका अर्थ होता है बिखरे हुए प्रकीर्णक विषयों का लेखन अथवा चित्रण। ग्रन्थकार ने भोली महिला द्वारा की गई पति से ऐसी चूनड़ी के लिखाने-छपाने की प्रार्थना को हृदयस्थ करके जिसे ओढ़कर जिनशासन में विचक्षणता प्राप्त होवे, इस ग्रन्थ की रचना की है, इसके प्रारंभिक पद्यों को पढ़िये—

विणएँ वंदिवि पंचगुरु, मोहमहातम-तोड़न-दिणयर।

गाह लिहावहि चूनडिय, मुद्धउ प-भणइ पिउ जोडिवि कर। ध्रुवकं॥

पणवउ कोमल-कुवलय-णयणी, (अमिय-गद्धभ जण-सिव-यर-वयणी।)

प-सरिवि सारद-जोणह जिम, जा अंधारउ सयल विणासइ॥

सा महु णिवसउ माणसहिं, हंसवधू जिम देवि सरासइ॥

हीरा-दंत-पंति-पयढंती; गोरउ पिउ बोलइ विहसंती।

सुन्दर जाइ सु चेइहरि; महु दय किज्जउ सुहय सुलक्खण॥

लह छिंपावहि चूनडिय; हउ जिण सासणि सुट्टु वियक्खण॥

इस भाषा को हम हिन्दी क्यों न कहें? जब कि इसमें मोहमें महातम-तोड़न। दिनकर-अंधकार सकल विनासे-निवसो मानसहि जैसे हिन्दी मुहावरे के शब्द पड़े हुए हैं। इसका अंतिम पद भी देखिये-

**तिहुयणि गिरिपरु झाग विक्खायउ, सगग-खंडु णं धरयलि आयउ।
तहिं णिवसंतें मुणिवरें, अजय-णरिंदहो राम-विहारहिं॥**

वेगें विरइय चूनडिय सोहहु, मुणिवर जे सुय धारहिं ॥३॥

अपना इतना परिचय ही ग्रंथकार ने दिया है। इससे उनका समय निर्दिष्ट नहीं होता, परन्तु वह लिपिकाल अर्थात् सं. 1576 से तो पहले की ही है।

हमारे संग्रह में एक गुटका वि. सं. 1626 का लिखा हुआ है, जिसमें अनेक स्रोत लिखे हुए हैं। उसमें लिपि की प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

संवत् 1622 वर्षे श्री माघमासे शुक्लपक्षे श्री वसन्तपंचमी दिने श्री बृहत्खरतरगछे श्री जिनचंद्रसूरिविजयराज्ये आ. श्री लक्ष्मी विनइगणि तस् शिष्य पण्डित क्षांतिरंगगणिना लिपीकृतं पुस्तिका प्रदत्ता।

इस गुटके में संग्रहित कतिपय रचनाओं की भाषा पुरानी हिन्दी प्रतीत होती है, यद्यपि उनके लिखने का ढंग अपभ्रंश जैसा है। उन रचनाओं में यह भी है। उनमें न तो रचनाकाल है और न प्रायः रचयिता का नाम ही। ऐसी रचनायें निम्नलिखित हैं और उनको हम सं. 1626 से पहले की अर्थात् 15वीं-16वीं शताब्दियों

की अनुमान करते हैं—

1. श्री विमलनाथस्तवन—श्री जयलाल मुनिकृत;
2. मेघकुमार कथानक—अज्ञातकविकृत;
3. गर्भविचारस्तोत्र (?)—श्री पद्मतिलक कृत;
4. श्री पार्श्वजिन विज्ञप्तिका—अज्ञान कविकृत;
5. अजितना शांति विवाहला स्तोत्र—श्री चिरनंदण उवझाय कृत;
6. स्तंभन पार्श्वनाथ स्तोत्र—श्री अभयदेवकृत;
7. खैराबाद पार्श्वनाथ जिनस्तवन—श्री गणिकातिरंगकृत;
8. पार्श्वस्तवन—श्रीगुणसागर कृत;
9. जिनस्तवन—(नं. 5 के अनुरूप है)
10. वीरस्तवन— नं. 5 के अनुरूप है (अपूर्ण)

विमलनाथस्तवन का आरंभिक अंश अनुपलब्ध है; क्योंकि गुटका के वे पत्र नष्ट हो गये हैं। स्तवन तेरहवें छंद से प्रारंभ होता है, जो इस प्रकार है—

तुम दरसनि मन हरपा, चंदा जेम चकोरा जी;
 राज रिधि मांगउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी ॥13॥विम.॥
 मात पिता वनिता भाई, स्वारथि संवइ संगई जी;
 तुम्ह सम प्रभु कोई नहीं इहरत परति सहाई जी ॥14॥विम.॥
 वैराटिपुर श्री विमल जिनवर सयल रिधि सिधि दावगो।
 हम थुणुउ भत्तिहि नियइ सत्तिहि, तेरमउ जिणनावणो ॥17॥
 श्री सयल संधह करण मंगल, दुरिय पाप निकंदणो।
 श्री जयलाल मुणंद जंपइ, देहि नाण सुदंसणो ॥18॥

मेघकुमार कथानक भी अपूर्ण है। उसका अन्तिम पद्य अवशेष नहीं है। प्रारंभ के पंद्रह छंद हैं, जिनके नमूने देखिये—

वीर जिणंद समोसरि जी, वंदइ मेघकुमार;
 सुणि देसण वयरागियों जी, इहु संसार असारु; री मइड़ी ॥1॥
 अनुमति देहु मुझ आज; संजय श्री सिउकाजरी। माई अनुम., आंचली
 वछ किं णइ तू भोलविउ रे, श्रेणिक तात नरेस,
 काइ अणु कि ण दूहविउरे, हंउ नवि देउं आदेउ आदेस रे जाय ॥2॥
 संजम विषम अपार, आदि निगोदि जिहा रुलिउरी,
 सहिया दुक्ख अनंत, सास उसास भ पूरियो री,
 अजउ न पायो अंतरी माई, अनुम. ॥3॥

इस प्रकार माता और पुत्र में संसार की असारता पर प्रश्नोत्तर होते हैं, जो वैराग्यभावना जागृत करते हैं। जब माँ की अपनी बात नहीं चलती, तो वह उनकी स्त्रियों की बात आगे लाकर कहती है—

मृगनयणी आठइ रहरे, नयणहि नीर प्रवाह;
 भरि जोवन छेरु नहीं रे मूकिन पूत अनाहरे जाया, संजम. ॥14॥

किन्तु मेघकुमार के मन में वैराग्य ने गहरा रंग जमाया था, अतः युवती पत्नियों का सौन्दर्य भी उनके मन को वैराग्य से मोड़ न सका। अन्त में दिल थाम कर माता पुत्र को दीक्षा लेने की आज्ञा देती है—
 तणु तूटइ लोयणे झरइरे, दुप न हियइ समाइ।
 होहु सुषी वंछति तुम करउ रे, उनमति दीनी माइरे जाया।

गर्भविचारस्तोत्र अट्टाईस छंदों में समाप्त हुआ है। वैसे यह स्तोत्र श्री ऋषभनाथजी को लक्ष्य करके लिखा गया है, परन्तु इसमें गर्भवास के दुखों का वर्णन है, इसलिए गर्भविचारस्तोत्र नामांकित है। रचना देखिए—

सिरि रिसहेसरेपय णेवि, पुर कोटहं मंडप।
 कंगइ दुग्गहं पढमंतित्व दुह दुरिष विहंढण ॥

सामी जंपउं किंपि दुरक णिय माणस केरउ ।
 गरुवा जिणवर किमइं राखि मुझ भवनउ फेरउ ॥1॥
 आदि अनादि निगोद माहि बहु कालु भमिउं महं ।
 सतर साढऊसासमज्झि भव पूरिप जिण मइं ॥
 णिग्गोदहं णीसरिउ णाह पडियउ एगिंदिहिं ।
 पुढवि आउ तहं, तेउ वाउ वणसइ दुहुं भेदिहिं ॥3॥
 पुव्व पुण्ण संजोगि पुणवि मणुवत्तणु पाविउ ।
 विविह दुक्ख णव मास सङ्ग गब्भिहि संताविउ ॥
 रमणि नाभितलि नाल कारि दुहुं पुष्फहं अच्छइ ।
 कोसागारिहिं ता मुहेठि पुण जोनि पडेत्थइ ॥9॥
 दंसण तुम्ह विहाण अच्छ चिंतामणि चडियउ ।
 सुरतरु अंगणि अन्ह अच्छ विविहप्परि फलियउ ॥
 सुरहंधेणु अंगणिहिं णाह अम्हहं अवयरियउ ।
 जइ भेद्यउ सिरि रिस हणाह मणवंछिय सरियज ॥27॥
 सिद्ध सूरि सीसेहिं जिण विनयउ परमाणंद ।
 पउमतिलय तुम्ह पय सरण दीठइ मण आणंद ॥28॥

इसकी भाषा में अपभ्रंश शब्दों का आधिक्य है, परन्तु रचनासरणी हिन्दी ही है। मालूम होता है कि कोट कांगड़ा की ऋषभ मूर्ति को लक्ष्य करके यह रचा गया है।

पार्श्वजिनविज्ञप्तिका दस छंदों का एक छोटा सा सुन्दर स्तवन है। नमूना देखिये—

जय जय पास जिणेसर गिरुवमरुव परमकारुणिय ।
 जय जय सव्यगुणायर, जय सामिय सयल गुणणिलय ॥2॥
 जय सुतुमं जय सामियं, अरकलिय गिरामयं चिरंजयसु ।

णंद सुपाव सुलोहं, लहसुजसं तिहुवणे सयल ॥10॥

श्री अजितनाथशांतिविवाहलास्तोत्र—बत्तीस छंदों में पूर्ण हुआ है, जिनमें श्री अजितनाथ और श्रीशान्तिनाथ तीर्थकरों की जीवन घटनाओं का वर्णन किया गया है। कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

मंगल कमला कंदुए, सुखसागर पूनिम चंद्रुए ।
 जग गुरु क्षत्रिय जिर्णदुए, संतीसरु नयणाणंदुए ॥1॥

वे जिणवर पणमेविए, वे गुण गाइ सुसंसेविए ।
 पुन्य भंडार भरेसुए, मानवभव सफल करेसुए ॥2॥

बिहुं पमि दमि धारिम धरीए, विहुं मोह मयणमद परिहरय ।
 बिहुं जिण झाण सयाणए, विहुं पामिय केवल नाणए ॥25॥

वे उच्छव मंगल करण, वे सयल संघ दुरियहं हरण ।
 वे वर कमल वयण नयण, वे सिरि जिणराय भवण रयण ॥31॥

इम भगसिहिं भोलिम तणीए, सिरि अजिय संति जिण थुइ भणिये ।
 सरणइ विहुं जिण पाए, सिरि भिरनंदण उवझाए ॥32॥

श्री स्तंभनपार्श्वनाथस्तोत्र एक प्रसादपूर्ण रचना है, जो तीस छन्दों में पूर्ण हुई है। यह रचना पार्श्वनाथ भगवान् की उस मूर्ति को लक्ष्य करके रची गई है तो स्तंभनपुर में विराजमान थी। इसके उदाहरण देखिये—

जब तिहुयण वर कप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि ।
 जय तिहुयण कल्लाण कोस, दुरिए क्करिणेसरि ॥

तिहुयण जण अवलंधियाण, भुवणत्तय साभिय ।
 कुणसु सुहाइं जिणेस पारा, थंभणयपुरद्विय ॥

तइं समरंति लहुंति भत्तिवर पुत्तकलत्तइं ।
 धन्न सुवश्च हरिण्ण पुण्ण जण भुज्जइंरज्जहिं ॥

पिरकइ मुरक असंख सुख तुह पास पसायण ।
 इय तिहुयण वर कप्प सरक सुरकइ कुण मह जिण ॥२॥
 एय महारिय जत्तदेव किं न्हवण महुसव,
 जं अणलिय गुण गहण तुम्ह मुणजण अणसिड्डउ ।
 एम पसीय सपासनाह थंभणयपुरहिय,
 इय मुणिवर सिरि अभयदेव विन्नवइ अणंदिय ॥३०॥

श्री खैराबाद पार्श्वजिनस्तवन—एक छोटा-सा स्तोत्र खैराबाद में स्थित पार्श्वजिन की प्रतिमा को लक्ष्य करके लिखा गया है। यथा—

पास जिणंद पहरावाद मंडण, हरपधरी नितु नमिस्यं हो ।
 रोर तिमर सब हेलिहिं हरस्युं, मन वंछित फल वरस्यं हो ॥
 भुवण विसाल भविक मन मोहइ, अनुपम कोरलि सोहइ हो ।
 सुर नर किंनर नाग नरेसर, पणमइ प्रह सम पाया हो ॥
 हम पास जिणवर नयण मणहर, कप्पतरुवर सोहए ।
 श्री नयर खयराबाद मंडण, भविय जण मण मोहए ॥
 श्री कनक तिलुक सुसीस सुंदर, लिक्ष्मी विनइ मुणीसरी ।
 तसु सीस गणि क्षांतिरंग पभणइ, हवइ दिन दिन सुपकरो ॥

श्री पार्श्वजिनस्तवन—छोटा-सा दर्शनस्तोत्र है। देखिये उसकी रचनाशैली यह है—

पास जी हो पास दरसण की वलि जाइयै; पास मनरंगै गुण गाइयै ।
 पास वाट घाट उद्यान में, पास नागै संकट उपसमै ॥ पा. ॥
 उपसमै संकट विकट कष्टक, दुरित पाप निवारणो ।
 आणंद रंग विनोद वारू, अपै संपति कारणो ॥ पा. ॥
 देवाधिदेव तृलोक.....रौ स्वामी कृपा घणी ।
 श्री गुणसागर कर जोढि विनवै पूरो आस्या मन तणी ॥

श्री गौतमस्तोत्र के प्रारंभिक छन्द इस प्रकार हैं—
 वीर जिणेसर चरण कमल कमलाकइवासो,
 पणमवि पक्ष णिसि स्वाम साल गोयम गुणरासो ।
 मणु तंणु बइणइ कंत करिवि निसुणो भी भवियाः
 जिस निवसइ तुम देह गुणगण गह गहिया ॥१॥
 जंबुदीव सिरि भरह वित्त पोणी तलु मंडण,
 मगधदेस सेणी नरेस रिब-दल-बल-पंडण ।
 धणवर गुवर गाम नाम जिह जिण गुण सिक्ता;
 विप्र वसइ वसभूय तच्छ तसु पुह वीभक्ता ॥२॥
 अंतिम छंद पत्रा फट जाने से अप्रकट है।

इस प्रकार इस गुटका में दिये हुए हिन्दी भाषा के स्तवनों का परिचय है। इन स्तवनों में विशेषता यह है कि इनमें जिन भगवान के गुणों और उनके जीवन की मुख्य घटनाओं अथवा स्थानविशेष में स्थित उनकी प्रतिमाओं और मंदिरों का वर्णन दिया हुआ है। जैन भक्तिवाद वीरपूजा का दूसरा नाम है और इन स्तोत्रों से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैनी उपासना के आदर्श को भूले नहीं थे।

(क्रमशः)

आनंदघन और यशोविजय

कुमारपाल देसाई

मीरा और आनंदघन के पदों में निरूपण का लालित्य है, परन्तु दोनों के वर्णन-विषय बिलकुल अलग है। मीरां प्रणय की निर्व्याज अनुभूति को सहजता से निरूपित करती है, जबकि आनंदघन में यह प्रणय सुमति और चेतन के आत्मपिपासु प्रणय के परिवेश में लिपटा हुआ है। मीरां कहती है कि उसने तो प्रेम आंसू डार-डार अमर बेल बोई। इस प्रकार मीरां द्वारा चित्रित प्रणय में वे स्वयं पात्र के रूप में आती हैं। जबकि आनंदघन में तो कवि प्रणय-आलेखन में भी अध्यात्मभाव को अभिव्यक्त करने वाले रूपकों को आलेखित करते हैं। मीरां के पदों में आनेवाले पात्र स्थूल जगत के पात्र हैं, जबकि आनंदघन के पात्र किसी आत्मानुभव के प्रतीक रूप में आलेखित रूपक हैं। चेतन पति, सुमति पत्नी, कुमति शोक्य (सौत), ज्ञान (अनुभव) और विवेक वह सुमति के भाई तथा चेतन के मित्र हैं।

प्रेम विरहणी मीरां के पद आत्मलक्षण अधिक प्रतीत होते हैं, जबकि ज्ञानी आनंदघन के पद अपेक्षाकृत अधिक परलक्षी है। मीरां में जो नारी हृदय का जादूगर है उसी प्रकार के उद्गार आनंदघन में भी मिलते हैं परन्तु वहीं इन उद्गारों को कवि रूपक रूप में आलेखित करता है। इसलिए मीरां के पदों में तादात्म्य और आनंदघन के पदों में तटस्थता का अनुभव होता है। मीरां की वेदना उनके हृदय से निकली हुई है, तो आनंदघन की वेदना मर्मज्ञ संत

की वेदना है। आनंदघन की भक्ति अखा की तरह है। उसमें ज्ञान के अनुषंग में आनेवाली भक्ति देखने को मिलती है। ज्ञान जब उच्च कोटि पर पहुँचता है तब अपने आप दर्शन होते हैं यह मीरां में दिखता है। आनंदघन की भक्ति तत्त्वज्ञान के अनुषंग से होनेवाली भक्ति है। इसलिए उनके रूपकों में रहस्यवाद देखने को मिलता है। इसके बावजूद मीरां जितनी तदाकारता और सचोटता आनंदघन अपने पदों में ला सके हैं यह पद रचनाकार के रूप में उकी विशिष्ट सिद्धि मानी जा सकती है। पद के स्वरूप में मीरां ने भक्ति और आनंद की मस्ती लुटायी है। दोनों संत कवियों ने इन पदों में अपने आत्म अनुभव का बयान करने के साथ-साथ पद-साहित्य में अविस्मरणीय अखा और आनंदघन।

अक्षयरस बहाता हुआ अखा और अनुभवलाली की मस्ती का गान करते हुए आनंदघन समकालीन तो थे ही लेकिन उससे भी ज्यादा दोनों में तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रहार करने की क्षमता, धर्माधता का विरोध और सत्य पिपासा की आरत का साम्य देखने को मिलता है।

आनंदघनजी के वैराग्य भाव को व्यक्त करती हुई लोककथायें प्राप्त होती हैं। इसी तरह से अखा के संसार त्याग को व्यक्त करती हुई भिन्न-भिन्न कथाएँ मिलती हैं। आनंदघनजी ने जिस तरह से मेड़ता में उपाश्रय का त्याग किया उसी तरह से अखा को भी सुनार के पेशे से नफरत हो जाने से औजार कुएँ में डाल दिये, ऐसी कथा प्रचलित है। दोनों संतों ने सत्य प्राप्ति के लिये सतत प्रयास किये हैं। सच्चे गुरु की खोज में दोनों संत बहुत घूमे हैं, आनंदघनजी को सच्चे गुरु की प्राप्ति नहीं हुई। उनको तो दिव्य नैनों से वस्तु-तत्त्व का चिंतन करने वालों का विरह पढ्यो निराधार लगता है। अखा

को भी कहीं ऐसे सच्चे गुरु की प्राप्ति नहीं हुई इसलिए वे कहते हैं—

गुरु कीधा में गोकुलनाथ, धरडा बड़द ने घाली नाथ;
धन हरे, धोखो नव हरे, ऐवो गरु कल्याण शुं करे?
पोते हरि ने न जाणे लेश, अने काढी बेठो गुरुनो वेश,
ज्यम सापने घेर परोणो साप, मुख चाटी वल्यो घेर आप
एवा गुरु घणां संसार, ते अखा शुं मूके भवपार?
प्राप्त राम करे ते गुरु, बीजा गुरु ते लाग्या वरु,
धन हरे, धोख नव हरे, संबंध संसारी साचो करे।

(जो राम (इष्टदेव) की प्राप्ति करावे या करें वही गुरु होता है। दूसरे गुरु तो लोमड़ी जैसे हैं। वे धन का अपहरण करते हैं। आपत्ति को दूर नहीं करता है और संसार के (स्वार्थी) संबंधो को चरितार्थ करता है।)

अखा दंभी गुरुओं पर कटु वाणी के कोड़े बरसाता है, तो योगी आनंदघन सच्चे गुरु की प्राप्ति न होने पर स्तवनों में गहरा विषाद प्रकट करते हैं—

आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विखवाद।

(स्तवन : 4, गाथा : 3)

श्रुत अनुसार विचारी बोलुं सुगुरु तथा विध न मिलई रे।

(स्तवन : 21, गाथा : 10)

सच्चिदानंद पाने के लिये गुरु की खोज तो बहुत की लेकिन कहीं भी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई। कहीं दंभ देखा तो कहीं जड़ता। कहीं एकांत आग्रह की जिद पाई तो कहीं बाह्याडम्बर पाया। पारसमणि की तलाश की, लेकिन हर कहीं पत्थर पाया। सच्चे ज्ञान की लगन थी तभी मालूम हुआ कि सच्चा गुरु किसी

मंदिर की दीवारों में, तर्क से पूर्ण ग्रंथों में या किसी भी प्रकार के क्रियायाकांडों में नहीं बसा है। इन्सान का सच्चा गुरु उसकी आत्मा है, आध्यात्मिक अनुभूति की चरमसीमा तक पहुँचने के लिये एकलवीर की तरह प्रयाण करने के लिए दृढ़ता की आवश्यकता होती है। इस चरमभूमिका (चरमकक्षा) पर कोई गुरु या बाह्याडम्बर व्यर्थ साबित होते हैं। आत्मा को स्वयं अपने ही प्रयासों से आत्मप्रतीति प्राप्त करनी होती है। जब स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को ढूँढ़ निकालती है तब अंतरात्मा को कितना आनंद होता है। अखा कहता है—

गुरु था तारो तुं ज, जूजयो को नयी भजवा।

हुँ ए हुं काढ्यो खोली, भाई रे, हुँ काढ्यो खोली।

(तुम अपने ही गुरु बनो। दूसरे किसी को भजने की आवश्यकता नहीं है। हे भाई मैंने यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला, मैंने यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला।)

अखा की मस्ती इस पद में कितने लय में व्यक्त हुई है? वही मस्ती आनंदघन के पदों में उतने ही गूढ़ ढंग से व्यक्त हुई है। जब आत्मस्वरूप में परमात्मभाव का अनुभव होता है, तब परमात्मस्वरूप प्राप्त आत्मा कितनी विरल मधुर दशा को प्राप्त होती है। आनंदघन सोलाहवें श्री शांति जि स्तवन में ऐसी विलक्षण आत्मप्रतीति को अखा जैसे ही लहजे में कहते हैं—

अहो हुं अहो हुं मुझ ने कहुं, नमो मुझ नमो मुझ रे।

(स्तवन : 16. गाथा : 13)

आत्मसाक्षात्कार के बाद हृदय की धरती कैसे निराले रूप में सात्विक प्रभाव महकाती है। अज्ञान की कालरात्रि बीत चुकी हैं और ज्ञान के प्रकाश से हृदय जगमगा उठता है। उस उल्लासपूर्ण आत्मदर्शन का वर्णन करते हुए आनंदघनजी एक पद में कहते हैं।

“सुहागन! जागी अनुभव प्रीत।

निन्द अनादि अज्ञान की, मिट गई निज रीत।।(1)

घट मंदिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरुप;

आप पराई आप ही, ढानप वस्तु अनुप।” (2)

हृदयमंदिर में सहज रूप से प्रकाशरूपी दीपक प्रकट हुआ है; अतएव अनादिकाल के अज्ञान की निद्रा दूर हुई है। आनंदघन ने एक दूसरे पद में ‘मेरे घट ज्ञान भानु भयो भोर’ का गान किया है हृदय में ज्ञान रूप सूर्य के उदय होने पर उदित प्रभात की बात यहाँ है।

परमतत्त्व की प्राप्ति का आनंद अखा मे अपने पदों में भरपूर व्यक्त किया है। अखा इस चैतन्य के विलास की मौज उड़ाते हुए कहते हैं— ‘हूं हसतो रमतो हरिमां भव्यो।’ और उस परम जीवन की प्राप्ति के आनंद को गाते हुए अखा मानों किसी चमत्कार का वर्णन करता हो इस तरह कहता है:

“छींदुं खोलता लाधी पोल, हवे अखा कर झाकमझोल।”

इस तरह आनंद को आलेखित करते हुए अखा अपने पदों में गाता है कि “अभिनवो आनंद आज”, “आज आनंद मारा अंग मां ऊपज्यो”, “आज आनंदनो ओघ ऊलट्या घणां।”

योगी आनंदघन का तो समग्र व्यक्तित्व आनंदमय हो गया है। अपनी आनंदावस्था का ज्ञान करते हुए कवि आनंदघन तो आनंदघन बनकर गाते हैं :

“मेरे प्राण आनंदघन, तान आनंदघन,

मात आनंदघन, तात आनंदघन,

गात आनंदघन, जात आनंदघन।”

और यह अवस्था ऐसी है कि उसमें कहना और सुनना कुछ नहीं होता। यह तो अनुभव की चीज है। प्रेम का तीर जिसे लगे

वही जाने। इसलिए आनंदघन कहते हैं कि यह ‘अकथ कहानी’ तो अनुभव से ही जानी जा सकती है:

अनुभव गोचर वस्तुकोरे, जाणयो यह इलाज,

कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे आनंदघन महाराज।

अखा ने समाज की अज्ञानता, जड़ता और धर्माधता पर ‘छप्पय’ के द्वारा प्रहार किया। समान की जड़ और निर्जीव रूढ़ियों का पालन करने की मनोवृत्ति और जड़ कर्मकांड में डूबे रहने के अज्ञान पर अट्टहास करते हुए अखा कहते हैं:

“तिलक करतां त्रेपन थयां, जप मालानां नाकां गयां,

तीरथ फरी फरी थाक्या चरण, तोय न पोहोता हरिने शरण।”

इसी जड़ता का विरोध योगी आनंदघन अखा की व्यंग्यपूर्ण वाणी के बदले एक कहावत प्रयुक्त करके कहते हैं :

“शुद्ध सरधानं विण सर्व किरिआ सही,

छार पर लीपणो जाणो।” (स्त. 14. गा. 5)

इन दोनों संतों ने शून्यवाद और चार्वाकवाद का कड़ा विरोध किया है। अखा शून्यवाद का उपहास उड़ाते हुए कहते हैं :

“हये शून्यवादी ने शून्ये शून्य,

विश्व नहीं ने नहीं पाप पुन्य;

उत्पत्य नहीं, ने नहीं समास,

स्वपर नहीं, नहीं स्वामीदास;

एम वरते शून्यवादी खरो,

पण अखा न चाले शून्य ऊफरो।”

योगी आनंदघन चार्वाकमत का खंडन करते हुए स्तवनों में गंभीरता से कहते हैं :

भूत चतुष्क वरजी आतमतत्त,

सता अभगी न घटे,

अंध शकट जो निजर न निरखो
तो सु कीजे शकटै ।।
(स्तवन : 20, गाथा : 6)

उस समय सभी संप्रदाय तर्क-वितर्क में डूबे हुए थे। अपना ही मत सर्वश्रेष्ठ है इसकी स्थापना के लिए पक्षपात और तर्कबाजी चलती थी। अपने मत का ऐसा जुनून ऐसे योगियों और ज्ञानियों को कहाँ से पसंद आये? मतमतांतर की इस लड़ाई में जिद का ही महत्व था। अतः ज्ञानी अखा ने और योगी आनंदघन अहर्निश अपनी शक्ति व्यर्थ में व्यय करने वालों पर सख्त नाराजगी व्यक्त की है। सच्चे धर्म को जाने बगैर अंधेरे कुएँ में झगड़ते हुए लोगों जैसे ये मतवादी अखा को प्रतीत है :

**खटदर्शन ना जूनवा मता मांहोमांहे तेणे खाधी खता ।
एक तुं थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी आपने अधिको गणे,
अखा ए अँधारो कूवो, झघड़ो भागी कोई न मूओ ।**

अखा खटदर्शन के जूजवा मत की जिद की आलोचना करते हैं, जबकि आनंदघनजी उस पर प्रहार करने के बदले इक्कीसवें **श्री नेमिनाथ जिन स्तवन** में षड्दर्शन के छह मतों को जिनेश्वर के छह मतों को जिनेश्वर के छह अंगों के रूप में दिखाते हैं और इस तरह से उनकी व्यापक औदार्यपूर्ण समदृष्टि प्रकट होती है। वे भी अपने मत में मस्त रहनेवाले मनुष्यों की टीका करने वाले अखा की तरह कहते हैं—

**मत मत भेंदे रे जो जे पूछीइ
सहू थापे अहमेव ।**

(स्तवन : 4, गाथा : 1)

ये दोनों आलोचक दंभी और दंभ की आलोचना करते हैं। वे सच की कीमत खुद जानते हैं इसीलिए। आनंदघन भी अखा की तरह ठोककर कहते हैं :

मच्छना भेद बहु नयण निहाणतां

तत्त्व नी वात करतां न लाजे ।

(स्तवन : 14, गाथा : 3)

इस तरह से इन दोनों समकालीनों ने तत्कालीन समाज की रुढ़िवादिता और दंभ पर प्रहार किये हैं। उस प्रहार करने की रीति में दोनों के व्यक्तित्व की विशेषता अपने आप प्रकट होती है।

कहीं-कहीं तो अखा और आनंदघन एक जैसा ही उद्गार निकालते हैं। अखा कहते हैं कि केवल सच्चे गुरु के मिल जाने से बात समाप्त नहीं हो जाती। बैल को नाथ क्यों पहनाया जाता है? उससे काम लेना आसान हो जाये इसलिए। इस दृष्टांत से अखा कहते हैं कि चित्त (मन) को भी नाथ (नथनी) पहनानी पड़ेगी। उसी मन को अंकुश में रखने की बात आनंदघन जी ने **श्री कुंथु जिन स्तवन** में बड़े मजे के साथ कही है।

इस तरह से इन दोनों ने सच्चे आत्मज्ञानी की जो पहचान दी है वह समझने जैसी है। सच्चा साधु कपड़ों से नहीं, गुणों से पहचाना जाता है। स्वांग सज लेने से कोई साधु नहीं बन जाता। वेश बदल लेने से आत्मा की पहचान नहीं मिल जाती। ऐसे वेशधारी (स्वांगी) या बाह्याचार में लीन लोगों के लिए अखा कहते हैं :

**आतम समज्यो ते नर जती शुं थयुं धोणां भगवां वती ?
बोडे, त्रोडे, जोडे वाण, ए तों सर्व उपल्यो जंजाण ।**

आनंदघनजी इस तरह से, इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि सच्चा आत्मज्ञानी ही श्रमण कहलाता है; अन्य सभी तो वेशाधारी (स्वांगी) ही माने जायेंगे। जो चीज को यथार्थ स्वरूप में दिखाता है वहीं सच्चा साधु माना जाता है:

आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजो द्रव्यत लिंगी रे।

वस्तुगतें जे वस्तु प्रकासें, आनंदघन-गत संगी रे।।

(स्तवन : 12, गाथा: 6)

मध्यकालीन गुजराती साहित्य में धर्म के संदर्भ में जो जागरुकता और स्पष्ट कथन अखा में देखने को मिलते हैं, वैसी ही जागरुकता और स्पष्ट कथन आनंदघन में देखने को मिलते हैं। अखा घुमक्कड़ आदमी था तो आनंदघन विहार (भ्रमण करने वाले) साधु थे। अखा की वाणी में तीखी चोट का अनुभव होता है, तो आनंदघन की वाणी में गांभीर्य का अनुभव होता है। अखा ब्रह्मरस और ब्रह्मखुमारी (ब्रह्मानंद) का बयान करता है तो आनंदघन आत्मज्ञान और अनुभवलाली का रंग जमाता है। इन दोनों में कोई भी केवल कोरी शुष्कज्ञानी नहीं है।

ब्रह्मरस की गहन अनुभूति को व्यवहारिक जीवन के दृष्टांतों से अभिव्यक्त किया है। उसकी वाणी में वास्तविक जिंदगी की उपमाएँ या दृष्टांत प्रासंगिक हैं। आनंदघन में विशेष काव्यत्व है और उसका झुकाव रहस्यवाद की ओर है। अखा रहस्यवादी नहीं है परन्तु तत्त्वज्ञानी है। अखा ने अपने काव्यों में वेदांत का तत्त्वज्ञान आलेखित किया है, जबकि आनंदघनजी ने जैन सम्प्रदाय की परिभाषा में ज्ञानबोध दिया है। आनंदघन में मस्ती वह स्थायीभाव है, जबकि अखा में मस्ती की झलकभर देखने को मिलती है। आनंदघन आत्मसाधना में मस्त योगी थे अतः सामाजिक सुधार की

ओर विशेष ध्यान रखता है। इसी कारण से उसकी वाणी में विशेष तीखापन दीखता है। अखा की भाषा रुक्ष और प्रहारात्मक है जबकि आनंदघन की भाषा उपेक्षाकृत मृदुल है। अखा में हास्य का प्रमाण भी अधिक देखने को मिलता है। आनंदघन में हास्य शायद ही दिखाई दे। इन दोनों सर्जकों ने पद के फलस्वरूप में उच्च आध्यात्मिक अनुभव डाला है। लेकिन अखा वेदांत की परिपाटी पर अध्यात्म अनुभव का आनंद व्यक्त करता है जबकि आनंदघन में कबीर और मीरां की तरह सहजभाव ही अध्यात्म - उपदेश देखने को मिलता है।

एक ही समय के फलक पर इस तरह के दो भिन्न प्रदेशों के ज्ञानी, अज्ञानी समाज को अपनी ज्ञानपूर्ण अनुभववाणी से प्रहार करके जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। मस्त साधकों की एक तरह से समाजलक्षी परमार्थ प्रवृत्ति थी।

(समाप्त)

सोने के कंगन

मध्य रात्रि भी आई और गुणधर लघुशंका के लिए उठा भी। सुमित्र ने अर्द्ध निद्रित दशा में देखा—गुणधर चला जा रहा है। वह भी चल दिया—नीच हृदय में दुष्ट विचार लिए। बाहर रात्रि का घटाटोप अन्धकार और अंतर्हृदय में लोभ का गहन तिमिर—पथभ्रष्ट हो गया सुमित्र ! पाँव फिसला और पानी में गुड़प। लहरों ने लील लिया उसे। कुछ पता न लगा किसी को। नाम निद्रा में निमग्न थे और सागर शान्त।

गुणधर अपने स्थान पर आकर सो गया।

सूर्य की लाल किरणें चमकीं। प्रभात हुआ। गुणधर नें देखा—सुमित्र नहीं दिखाई पड़ रहा है। बहुत ढूँढ़ा। कहीं न मिला तो दुखी होकर वह भी समुद्र में छलांग लगाने को तत्पर हो गया। अनुचरों ने पकड़कर आत्महत्या करने से रोका और समझो लगे—

—स्वामी ! संयोग-वियोग तो संसार का नियम है। धैर्य रखिए। आप विवेकी होकर भी आत्म-हत्या कर रहे हैं। इससे तो जन्म-जन्मान्तर तक कष्टों को आग में जलना पड़ेगा।

अनुचरों ने अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर उसे आत्म-हत्या करने से रोक लिया।

ताम्रलिप्ती पहुँचकर गुणधर ने सारा माल बेचा और रसतूँबी तथा प्राप्त धन लेकर अपने नगर धनपुर आ गया।

उसका चित्त किसी काम में न लगता। उसे प्रतिक्षण अपने मित्र की याद सताती रहती।

एक बार गुणधर उद्यान में गया। वहाँ सुधर्मा नाम के मुनि बैठे थे। गुणधर ने उन्हें भावपूर्वक वंदन किया और देशना सुनने के लिये बैठ गया।

मुनि ने अपने ज्ञानोपयोग से जान लिया कि गुणधर मित्र वियोग से दुखी है। उन्होंने उसे सम्बोधित किया और सुमित्र की काली करतूतें बताईं।

गुणधर ने उनके चरणों में प्रव्रज्या ले ली।

राजा पुरुषोत्तम को संबोधित करके मुनिश्री ने कहा—

—और नरेश मैं ही वह गुणधर हूँ।

गुरुदेव आगे बताने लगे—

यह कपिजल पूर्वभव में शिवदेव नामका श्रावक था। मोहन की कुसंगति के कारण इसने भी साधुनिन्दा की। और धर्म का विद्वेषी हो गया। फलस्वरूप इसे भी अनेक योनियों में भटकना पड़ा और अब कपिजल के रूप में यहाँ बैठा है। पूर्वजन्म के धर्म-विद्रोही संस्कारों के कारण ही यह धर्म के मर्म को समझकर भी नहीं समझ पा रहा है। बार-बार इसका मस्तिष्क सोचता है कि यह सत्य है। इसे स्वीकार करना चाहिए। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। किन्तु दूसरे ही क्षण दुर्भावना हृदय में उत्पन्न होती है, नहीं यह सब गलत है, मिथ्या है।

राजन् ! इसके हृदय की ऐसी दोलायमान दुलमुल स्थिति है फिर भी परिणाम भद्र है और यह अपना कल्याण कर सकता है।

मुनि के मुख से अपने पूर्वभव और वर्तमान यथार्थ स्थिति को सुनकर कर्पिंजल के नयन आर्द्र हो गये। वह मुनिश्री के पैरो में गिर गया और हृदय से सद्धमं के प्रति दुर्भावना निकालने में प्रयत्नशील हुआ।

राजा ने जिज्ञासा प्रकट की—प्रभो! राजा वीरांगद ने स्वर्गलोक के आयुष्य पूर्ण कर कहाँ जन्म लिया?

—तुम्हीं तो हो वीरांगद के जीव।

पुरुषोत्तम को अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को सुनकर वैराग्य हो आया। उसने अपने पुत्र पुरुचन्द्र को राज्यारूढ़ किया और स्वयं चारित्रारूढ़ हो गया। उसने श्रामणी दीक्षा ले ली।

दोनों भाई कनकध्वज और जयसुन्दर भी इस वृत्तान्त को सुन रहे थे। उनके हृदय में भी वैराग्य-भावना बलवती हुई। भाई कनकध्वज ने छोटे भाई से कहा—

—बन्धु ! तुम ताम्रलिप्ती चले जाओ।

—और आप?

—मैं तो यहीं प्रव्रजित होता हूँ।

—मैं भी आपका ही अनुकरण करूँगा।

कनकध्वज ने समझाया—युवराज ! मेरा अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम जाओ, प्रजा का कल्याण करो और मुझे आत्म-कल्याण करने दो।

जयसुन्दर ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—भैया! आत्मा का कल्याण तो मुझे भी करना है। आप मुझे क्यों वंचित कर रहे हैं। यह

छत्र और सिंहासन किसी और को दीजिए।

—तुम राज्य-पाठ नहीं लोगे?

—आप तो इस संसार रूपी जेलखाने से निकल जायें और मैं यही पड़ा रहूँ? यह नहीं हो सकेगा।

कनकध्वज ने भली-भाँति समझ लिया कि जयसुन्दर राज्य का भार नहीं ग्रहण करेगा। मुनिश्री दोनों की बातें शांतिपूर्वक सुन रहे थे। दोनों भाइयों ने मुनिश्री को नमन किया और ताम्रलिप्ती की ओर चल दिये।

राजा कनकध्वज ने नगरी में पहुँच कर राज्य सिंहासन पर अपने पुत्र कनककेतु को बिठाया और दोनों भाइयों ने भागवती दीक्षा स्वीकार करली।

दोनों भाई ज्ञान की आराधना और संयम का पालन करने लगे। द्वादशांगी के अभ्यास से उनकी ज्ञान ज्योति महकने लगी। शुद्ध समय का पालन करते हुए उन्होंने कालधर्म प्राप्त किया और विजय नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

कुसुमायुध और कनककेतु : दशवां भव : कनकध्वज का जीव विजय विमान से अपना आयुष्य पूर्ण कर रानी प्रियमती की कुक्षि में अवतरित हुआ। प्रियमती चंपानरेश राजा जय की प्रिय रानी थी।

पुष्पशाली कनकध्वज के गर्भ में आते ही रानी को स्वप्न दिखाई दिया—**राजा ने मुझे सिंहासन पर बिठाकर अपने हाथों से मुकुट पहनाया है।**

स्वप्न कौतूहलवर्द्धक था। पटरानी मुकुट भी पहलनती है

और सिंहासन पर पति के साथ भी बैठती हैं। अपनी बुद्धिमत्ता से राज्य की न्याय-नीति में जनहित के लिए सुझाव देती हैं किन्तु राजा स्वयं उसे सिंहासन पर बिठाकर अपने हाथों से मुकुट पहनाया है।

स्वप्न कौतूहलवर्द्धक था। पटरानी मुकुट भी पहनती हैं और सिंहासन पर पति के साथ भी बैठती है। अपनी बुद्धिमत्ता से राज्य की न्याय-नीति में जनहित के लिए सुझाव देती हैं किन्तु राजा स्वयं उसे सिंहासन पर बिठाकर अपने हाथ से राज्य मुकुट पहनाए—बात कुछ अद्भुत थी। अनोखी सी लगती थी।

असाधारण पुरुषों के आगमन स्वरूप (असाधारण घटनाएँ ही घटती हैं। विशेष जीवों के गर्भागमन के सूचक भी माता के स्वप्न ही होते हैं। जैसा पुण्यात्मा अथवा पानी गर्भस्थ शिशु जैसे ही माता के स्वप्न और दोहद।

जागृत होकर माता ने अपनी उत्सुकता शांत करनी चाही, उसने महाराज को स्वप्न बताकर पूछा—नाथ ! इस का क्या फल है?

स्वप्नशास्त्रियों से पूछकर राजा ने प्रियाप्रियमती को बताया—देवि! तुम एक सुन्दर और तेजस्वी पुण्यवान पुत्र की माता बनागी। शिशु अवस्था में ही उसका राज्याभिषेक होगा।

राजा की बात सुनकर प्रियमती के नेत्रों में हर्ष की चमक आई और एकदम बुझ गई। वह दीपक की लौ की भाँति काँपी और उसका मुख बुझी राख के समान सफेद पड़ गया।

प्रिया की दशा देखकर राजा जय ने चिन्तित स्वर में पूछा—

प्रिये! तेजस्वी पुत्र की माँ बनना तो सौभाग्य की बात है। तुम्हारा चेहरा फक क्यों हो गया?

बड़ी कठिनाई से रानी ने उत्तर दिया—स्वामी! मेरे पुत्र का शिशुवय में ही राज्याभिषेक होगा। तो.....

—तो क्या? आगे कहो देवी?

—कैसे कहूँ नाथ? मुख से शब्द नहीं निकलते, कंठ तक ही आकर अटक जाते हैं।

—बताओ तो सही तुम्हारे हृदय में क्या दुश्चिन्ता व्याप्त हो गई? पुत्र-जन्म से सभी सुखी होते हैं और तुम दुःखी हो। कितना पुण्यशाली है हमारा पुत्र जो शिशुवय में ही राजा बनेगा?

—और मुझे पति-वियोग हो जायेगा। भावावेश में रानी के मुख से निकल गया।

बात मुख से बाहर निकल ही चुकी थी तो रानी ने आगे भी कह दिया।

—स्वामी! अबोध शिशु के सिंहासनारोहण का अभिप्राय होता है, पितृवियोग और वितृवियोग माता के लिए क्या होता है, किसी सती नारी के हृदय से पूछिए।

कहते-कहते प्रियमती के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। कंठ अवरुद्ध हो गया। राजा का विवेक भी जागा। इस दृष्टि से तो उन्होंने सोचा भी नहीं था। नारी की सहज बुद्धि से राजा जय-प्रभावित हुए।

राजा-रानी दोनों मौन-अवाक् बैठे थे। साहस बंधाया पति ने। आश्वासन दिया—प्रिये! इस दृष्टि से तो मैंने सोचा भी नहीं था। तुम

चिन्ता न करो। अभी ज्योतिषियों को बुलवाकर इस रहस्य को सुलझवाता हूँ।

राजा ने प्रिया को भाँति-भाँति के उत्साहवर्द्धक वचनों से आश्वस्त किया और राजसभा में पहुँचा। ज्योतिषियों को बुलवाकर पूछा—

—आप लोगों ने बताया कि पुत्र का राज्याभिषेक शिशुवय में ही हो जायेगा।

—हाँ, महाराज!

—तो क्या, उसके पिता की मृत्यु हो जायेगी?

राजा के शब्दों से समस्त सभा में मौन छा गया। सभी एक दूसरा का मुख देखने लगे। न्यायप्रिय और प्रजावत्सल राजा की मृत्यु—कल्पना भी दुखदायी है। गणितज्ञों की मुखमुद्रा गंभीर हो गई। राजा जय ने ही पुनः कहा—

—गणितज्ञो ! पुत्र के और मेरे भाग्य में जो कुछ है, स्पष्ट निडर होकर बताओं। चातुकारिता भरे मधुर वचनों से राज्य का-प्रजा का अहित ही होगा। मुझे स्पष्ट उत्तर चाहिए।

मुख नीचा करके गणितज्ञ गणना करने लगे। बहुत देर तक ऊहापोह करके उन्होंने कहा—

—राजन! स्पष्ट बात तो यह है कि आपकी मृत्यु का कोई योग नहीं है किन्तु—

—किन्तु क्या, साफ-साफ बताइयें।

—होनी प्रबल है, प्रजापाल!

—पहेलियाँ मत बुझाइये। सरल शब्दों में सत्य प्रगट करिये।

—तो आपको और महारानी को परस्पर कुछ समय के लिए वियोग सहना पड़ेगा।

—और उसके बाद?

—पुनः मिलन हो जायेगा। मृत्यु अथवा अरिष्ट माता-पिता और पुत्र किसी का नहीं है।

—यह आप प्रामाणिकता से कह रहे हैं?

—हाँ, राजन! यह बात बिलकुल प्रामाणिक है।

निमित्तज्ञानियों के भविष्य कथन से उपस्थित जनों को सन्तोष हुआ। उन्हें विश्वास हो गया कि राज्य को राजा का वियोग नहीं है।

राजा जय ने आकर रानी-प्रियमती को समझा दिया कि तुम्हारी आशंका निर्मूल है। वियोग वाली बात उसने नहीं बताई अन्यथा रानी को दुःख होता और नीतिवान, सच्चरित्र पुरुष ऐसा कोई काम नहीं करते, जिससे किसी अन्य को कष्ट हो। उनका एक-एक कार्य, एक-एक वचन न्याय और नीति की तुला पर तुलकर निकलता है। धर्म का मूल मंत्र ही है— **नास्त्यन्यं पीडन किंचिद्**—किसी को तनिक भी पीड़ा न हो।

प्रियमती प्राणेश्वर का आश्वासन पाकर संतुष्ट हो गई। उसके मुख पर मुस्कान पुनः खेलने लगी।

रानी के हृदय को कोई दुश्चिन्ता पुनः न घेर ले—इसके लिए राजा जय सदैव सचेष्ट रहता। वह उसके मनोरंजन और आमोद-

प्रमोद के साधन जुटाने लगा। गर्भिणी के दुख का, दुश्चिन्ता का गर्भस्थ शिशु पर कुप्रभाव पड़ता है—इसे वह भली-भाँति जानता था।

इसी उद्देश्य से एक बार वह अपनी प्रिया को साथ लेकर उद्यान क्रीड़ा के लिये निकला। उद्यान में राजा-रानी एक आम के पेड़ की सुखद छाया में बैठ गये। राजा ने वीणा निकाली और स्वर संधान किया। स्वर लहरी वन प्रान्तर में प्रखरित होने लगी। ज्यों-ज्यों राजा की चपल अंगुलियाँ तीव्र, मंद, मध्यमगति में वीणा के तारों को झंकृत करती गई त्यों-त्यों सप्त स्वर की निर्झरिणी होकर चतुर्दिक व्याप्त होती गई। स्वर इतना मधुर था, ऐसा रसीला था कि चारों ओर नीरव स्तब्धता छा गई।

वन में रहने वाली व्यंतरी किसी मंत्र-मुग्ध नागिन के समान खिंची चली आई। अदृश्य रहकर ही उसने देखा—जितना रसीला और मुग्धकारी संगीत है उसने शतगुना सजीला रूप। व्यंतरी मुग्धा नायिका बनी, राजा को एकटक देखती रही।

राजा ने वीणा एक ओर रख दी। स्वर लहरी रुक गई। मुग्धा व्यंतरी को जैसे होश आया। उसने देखा राजा की बगल में एक अनन्य सुन्दरी बैठी है। उसे सौतिया डाह हो आया। जितना रसीला और मुग्धकारी संगीत है उससे शतगुना तीला रूप। व्यंतरी मुग्धा नायिका बनी, राजा को एकटक देखती रही।

राजा ने वीणा एक ओर रख दी। स्वर लहरी रुक गई। मुग्धा व्यंतरी को जैसे होश आया। उसने देखा राजा की बगल में एक अनन्य सुन्दरी बैठी है। उसे सौतिया डाह हो आया। ऐसे सुन्दर,

सजीले, वीर और गुणी पुरुष को यह भोगे और मैं देखती रह जाऊँ। जल-भुनकर खाक हो गई, वह।

रानी प्रियमती आवश्यक शारीरिक बाधा के कारण पति की आज्ञा से वहाँ से दूर चली गई। राजा अकेला रह गया। व्यंतरी ने देखा अवसर अच्छा है। उसने अति सुन्दर मानवी का रूप बनाया और राजा के सामने हाव-भाव कटाक्ष दिखायी हुई प्रगट हुई। राजा जय ने एक बार उसे दृष्टि उठाकर देखा और समझ लिया कि कोई काम-किंकरी है। विरक्तिपूर्वक उसने नजर दूसरी ओर घुमा दी।

व्यंतरी ने राजा को काम-बाण से घायल करने के उपाय करने प्रारम्भ कर दिये। उसकी विविध लीलाओं से उकता कर राजा ने पूछा—

—तुम कौन हो? मेरे पीछे क्यों पड़ी हो? मुझसे क्या चाहती हो?

—एक स्त्री एक पुरुष से क्या चाहती है? तुम भली भाँती जानते हो। व्यंतरी ने उत्तर दिया, और आगे कहने लगी—

—राजनऋतमें इस वन में रहने वाली व्यंतरी हूँ। तुम्हारे गुणों से आकृष्ट होकर यहाँ आई हूँ। अब मेरी इच्छा पूरी करो। तुम भी सुख पाओ और मुझे भी सुख दो।

—मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। मेरी तो पत्नी है।

—मैं जानती हूँ, किन्तु मैं तुम्हें इतना सुख दूँगी कि उसे भूल जाओगे और सदा के लिए मेरे ही होकर रहोगे—व्यंतरी ने निर्लज्जतापूर्वक कहा।

राजा ने फटकार लगाई—निर्लज्ज! तू यहाँ से चली जा। मैं परस्त्री का त्यागी हूँ।

—राजन! परस्त्री वह होती है जिसका कोई पति होता है। मैं पराई हूँ कहाँ? मैं तो तुम्हारी ही हूँ। तुम्हीं मेरे पति हो।

जय राजा को उसकी ढीठता और निर्लज्जता पर बड़ा क्रोध आया। उसने घृणापूर्वक कहा—

—पापिनी! तू देवजाति को कलंकित कर रही है। यहाँ से चली जा। मुझे तुझसे घृणा है।

व्यंतरी ने रोषपूर्वक उत्तर दिया—राजन! तुमने मुझे ठुकराया है। मुझसे घृणा की है। नारी कोई भी क्यों न हो देवी—चाहे दानवी, मनुष्यनी या तिर्यचिनी—उसका क्रोध बड़ा भयंकर होता है। उसकी ईर्ष्या—डाह की अग्नि से परिवार तो क्या राज्य, समाज—पृथ्वीमंडल तक जलने लगता है। मेरी बात मान लो नरेश! अन्यथा बहुत दुख पाओगे।

—जा तुझे दिखे सो कर किन्तु मैं अपना शीलव्रत खंडित नहीं होने दूँगा—राजा ने उसका तिरस्कार कर दिया।

व्यंतरी वहाँ से अदृश्य हो गई। वन क्रीड़ा का सारा मजा ही किरकिरा हो गया। रानी को साथ ले राजा नगर को वापिस लौट गया।

ईर्ष्या की अग्नि बहुत प्रचण्ड होती है, व्यंतरी भी ईर्ष्या की अग्नि में जल रही थी। वह अदृश्य रूप से राजमहल में प्रविष्ट हुई और अवसर की प्रतीक्षा करने लगी।

एक बार राजा अंतःपुर में आया। उस समय रानी प्रियमती अपने शयन कक्ष में न थी। व्यंतरी ने अवसर देखा और प्रियमती का रूप बनाकर प्रकट हो गई।

देव अपना रूप बदल सकता है, किन्तु अपने मनोभावों की नहीं छिपा सकता। उसकी चेष्टाओं से समझदार सूक्ष्म दृष्टि के धनी व्यक्ति उसका असली स्वरूप जान जाते हैं।

व्यंतरी ने भी अपना रूप तो प्रियमती का सा बना लिया, किन्तु कामुकता नहीं छिपा सकी। उसकी चेष्टाओं से वासना टपकी पड़ रही थी।

राजा ने देखा तो देखता ही रह गया। कहाँ शील की प्रतिमूर्ति प्रियमती और कहाँ यह कामुकतापूर्ण हाव-भाव। अचानक इतना बड़ा परिवर्तन। ऐसी विपरीत वृत्ति? क्या कारण है? सूक्ष्म दृष्टि से राजा ने देखा तो माजरा स्पष्ट हो गया। उसने पैर जमीन से कुछ ऊँचे थे, दीवाल पर उसकी परछाई भी नहीं पड़ रही थी।

विवेकी राजा का विवेक जागृत हुआ। वह विचार करने लगा—जैन धर्म में तो यह लक्षण देवियों के बताए हैं। मानवों के तो पाँव जमीन पर टिके होते हैं और उनके शरीर को परछाई भी पड़ती है। अवश्य ही यह कोई माया है—छलावा है—कोई देवी है यह और देवी भी कोई निम्नकोटि की। उच्चकोटि की देवी ऐसे निर्लज्ज हाव-भाव प्रदर्शित, नहीं करती। उनमें गंभीरता होती है और होती है एक महिमामय गरिमा।

जब राजा को स्मृति हो आई, उद्यान में मिली व्यंतरी की। वह भी ऐसे ही हाव-भाव-कटाक्ष कर रही थी। अब सारी स्थिति

स्पष्ट हो गयी। वह घृणापूर्वक बोला—

—दुष्टा! तू यहाँ भी आ गई। धिक्कार है तुझे और तेरी इस निकृष्ट वासना को। तेरी यह पापेच्छा कभी पूरी न होगी।

नेत्रों से क्रोध की चिंगारियाँ छोड़ती हुई व्यंतरी तिरस्कृत होकर अदृश्य हो गई। अपमान ने उसकी आत्मा को झकझोर दिया।

सद् प्रवृत्ति के जीव धिक्कार पाकर पापकर्म को छोड़ देते हैं और दुष्टवृत्ति के बदला लेने पर उतारू हो जाते हैं।

व्यंतरी की दुष्टवृत्ति तो चरण सीमा पर पहुँची हुई थी। उसने बदला चुकाया—रानी प्रियमती से। रात को सोती हुई गर्भवती रानी को उसने पलंग (शय्या) सहित उठाया और निर्जन वन में छोड़ दिया।

और दुष्टों से आशा भी क्या की जा सकती है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सज्जनों को कष्ट देने के लिए ही होती है। दूसरों को दुखी करना ही एक मात्र स्वभाव होता है उनका।

प्रातः रानी प्रियमती अपने शयन कक्ष में न मिली तो सारा महल ढूँढ़ डाला गया। रानी महल में होती तो मिलती, वह तो निर्जन वन में पड़ी थी।

पत्नी-वियोग के कारण राजा शोकसागर में डूब गया। मन्त्रियों ने आकर समझाया—

—स्वामी! धैर्य धारण कीजिए।

—कैसे धैर्य धारण करूँ मंत्री। मैं तो लुट गया। प्रिया बिना

अब जीवन किस काम का? प्राण तन से निकल जायें तो ही अच्छा।

—प्राण न रहेंगे तो आप रानी से मिलेंगे कैसे और कौन पुत्र का मुख देखेगा।

राजा हतप्रभ होकर मन्त्री का मुख देखने लगा। मन्त्री ने ही बताया—

—आपको स्मरण तो होगा, महाराज! निमित्तज्ञों ने क्या कहा था?

—क्या कहा था?

मन्त्रियों ने समझ लिया कि राजा प्रियमती के मोह में सब कुछ भूल गया है। वे बोले—

—उन्होंने कहा था कि कुछ समय के वियोग के बाद आप सबका पुनः मिलन होगा।

जय राजा को याद आया। बोला—हाँ, कहा तो उन्होंने ऐसा ही था।

—तो उठिये और अपना कर्तव्य-पालन कीजिए। कुछ समय बात रानी आपको अवश्य प्राप्त जायेगा।

राजा आश्वस्त हुआ। उसने अपने दूत जगह-जगह रानी की तलाश में भेज दिए और प्रजा-पालन के अपने कर्तव्य में लग गया किन्तु सोते-जागते, उठते-बैठते उसे सदा रानी का ध्यान ही लगा रहता। उसके जीवन में सुख का अभाव हो गया। हँसी होठों से रूठ गई।

प्रिया मिलन की आशा में उसके दिन व्यतीत होने लगे।

प्रातःकाल प्रियमती की निद्रा टूटी तो चारों ओर घनी जंगल देखकर विस्मित रह गई। उसकी कुछ समझ में ही न आया। असहाय नारी रोने लगी और अबला कर भी क्या सकती थी? इधर-उधर भटकती हुई उसके मुख से एक ही शब्द निकल रहा था—हा नाथ! हा नाथ!

दैवयोग से एक तापस की उस पर नजर पड़ी। उसने पूछा—अरे स्त्री! तू कौन है और इस जंगल में कैसे आ गई?

प्रियमती ने रोते-रोते बताया—

—मैं चम्पानरेश राजा जय की रानी प्रियमती हूँ। रात्रि को सुख से अपने महल में सोई हुई थी। सुबह नींद खुली तो इस जंगल में पाया। यह सब कैसे हुआ, किसने किया—मुझे कुछ नहीं मालूम।

तापस उसे अपने आश्रम में ले गया। कुछ समय बाद कुलपति ने समीप के ही नगर श्रीपुर में उसे भेज दिया। तापस उसे नगर की सीमा तक छोड़कर चले आये।

पति वियोगिनी नगर में जाने लगी। हजारों को आश्रय देने वाली राजरानी आज स्वयं ही आश्रयहीन थी। नगर की सीमा पर जिनायतन था। वही उसे एक श्राविका मिल गई। उसने पूछा—बहिन! तुम कौन हो? और कहाँ से आ रही हो?

रानी के मुख से उत्तर नहीं निकला, नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। श्राविका ने समझ लिया कोई कुलीन नारी विपत्ति में फँसी हुई है। आग्रहपूर्वक वह उसे अपने घर ले गई।

श्राविका के पिता धनंजय सेठ ने उसे सभी पुत्री का सा प्यार दिया। रानी यहाँ रहने लगी। कुछ समय बाद रानी ने बता दिया कि वह चम्पा की राजरानी प्रियमती है।

धनंजय सेठ कर्मगति पर विचारने लगा—देखो! कर्मों की गति कैसी न्यारी हैं। राजरानी आज आश्रय विहीन है। कुछ पता नहीं लगता कब अशुभ कर्म का उदय आ जाय और समस्त सुख संपत्ति नष्ट हो जाय।

वहीं रानी प्रियमती ने पुत्र प्रसव किया। सेठ ने पुत्र का नाम कुसुमायुध रखा।

कुमार कुसुमायुध सेठ धनंजय के घर अपनी शिशुलीला से सबको प्रसन्न करता हुआ तीन वर्ष का हो गया। रानी पुत्र की लीलाओं से प्रसन्न होती, किन्तु रात-दिन हृदय में पति का नाम जपती। पति के बिना सती की क्या गति? वह कई बार धर्मपिता सेठ धनंजय से चम्पा जाने की इच्छा व्यक्त कर चुकी थी। परन्तु कोई सुयोग मिला नहीं और चाहते हुए भी धनंजय उसे भेज नहीं सका। कर्म का फलभोग क्षीण हुए बिना सुयोग मिलता भी कैसे?

रानी प्रतीक्षा करती रही। कर्म का फलभोग कुछ कम हुआ और श्रीपुर से जाने का सुयोग आ गया।

श्रीपुर नगर का सार्थवाह वासवदत्त चम्पा नगरी को ज रहा था। सेठ धनंजय ने उससे कहा—

—सार्थवाह, मेरी धर्म-पुत्री प्रियमती चम्पानरेश राजा जय की रानी है। उसे तुम साथ ले जाओ और सकुशल वहाँ पहुँचा दो तो बड़ी कृपा होगी।

सार्थवाह ने उत्तर दिया—सेठ जी। आपकी धर्मपुत्री मेरी भी धर्मपुत्री है। आप निश्चिन्त रहिए।

प्रियमती सार्थवाह वासवदत्त के सार्थ के साथ अपने तीन वर्षीय पुत्र को लेकर जल पड़ी। मार्ग में सार्थ शिववर्द्धन नगर की सीमा पर विश्राम हेतु रुका। प्रियमती अपने पुत्र के साथ सो रही थी। उसी समय कुछ कुलीन व्यक्तियों ने आकर कुमार का अभिषेक कर दिया।

अनेक व्यक्तियों की पदचाप और मंत्रोच्चारण की ध्वनि से माता की आँख खुल गई। देखा—पुत्र का अभिषेक हो चुका है। वह विस्मित—सी उन लोगों की ओर देखने लगी।

उन पुरुषों ने हाथ जोड़कर कहा—

—देवि! हमारे राजा ने जिन दीक्षा ले ली और राज्य का कोई उत्तराधिकारी नहीं। इसीलिए हमने तुम्हारे पुत्र का अभिषेक कर दिया है।

तब तक सार्थवाह वासवदत्त भी आ गया। उसने प्रियमती के विषय में मंत्रियों को सब कुछ बता दिया। मंत्रियों के हर्ष की सीमा न रही।

मंत्री आग्रहपूर्वक कुमार कुसुमायुध, रानी प्रियमती और सार्थवाह की नगर में ले गये। कुमार का राज्याभिषेक धूमधाम से संपन्न हुआ। सैकड़ों सामन्तों ने बाल राजा को नमन किया।

निमित्तज्ञों की भविष्यवाणी **कुमार का शिशुवय में ही राज्याभिषेक होगा** सत्य हो गई। रानी के मन में विचार किया **होनी प्रबल है। खोटे कर्मों का फलभोग अभी समाप्त नहीं हुआ है।**

पतिदर्शनों में बाधा पड़ गई और उसने नियति को चुपचाप स्वीकार कर लिया।

सार्थ कुछ दिनों के लिए वहीं रुक गया।

रानी चुप हो गयी परन्तु भाग्य चुप नहीं हुआ। राज्यलोभी जयंती नरेश राजशेखर शिववर्द्धन नगर पर चढ़ आया। शिववर्द्धन नगर का सैन्यवल कमजोर था परन्तु दुर्ग (किला) मजबूत। मंत्रियों ने किले के द्वार बन्द कर लिए। अवन्ती नरेश ने नगर के बाहर री पड़ाव डाल दिया। उसका विचार था—कभी तो दुर्ग के द्वार खुलेंगे तभी नगर पर अधिकार कर लूँगा।

सार्थवाह वासवदत्त ने धर्मपुत्री को विपत्ति में फँसा देखा तो द्रुत गति से चम्पा की ओर चल दिया।

चम्पा की राज्य सभा में प्रवेश करके वासवदत्त ने महाराज जय को अभिवादन किया और शीघ्रता से बोला—

—महाराज ! आपका बालपुत्र कुसुमायुध तीन वर्ष का है। इसी शिशु अवस्था में उसका राज्याभिषेक मंत्रियों ने कर दिया। आपकी पत्नी प्रियमती भी उसके साथ है। बाल राजा पर राज्यलोभी अवन्ती नरेश ने आक्रमण कर दिया। अब आप उनकी रक्षा कीजिए।

राजा जय पुत्र और पत्नी का समाचार जान हर्ष से नाच उठा। उसने सार्थवाह से कहा—

—भद्र ! तुम घबराये हुए हो। शांतिपूर्वक बैठो और सब बात विस्तार से बताओ।

—महाराज ! रानी प्रियमती और बालक कुसुमायुध विपत्ति में हैं। उन्हें बचाइये।

—भद्र ! तुम अपना परिचय तो दो। उनकी रक्षा तो मेरा प्रथम कर्तव्य है ही।

सार्थवाह कहने लगा—

राजन् ! मैं श्रीपुर नगर का सार्थवाह वासवदत्त हूँ। आपकी रानी प्रियमती किसी अनजान कारणवश राजमहल में सोती हुई भी भयंकर जंगल में जा पहुँची। वह कैसे गई, कौन ले गया, कुछ नहीं मालूम। वहाँ किसी तापस ने उसकी रक्षा की और समीप के नगर श्रीपुर में पहुँचा दी। नगर के जिनधर्मी श्रावक सेठ की पुत्री उसे अपने साथ ले गई। सेठ धनंजय ने उसे अपनी पुत्रीवत् रखा। वहीं आपका पुत्र कुसुमायुध उत्पन्न हुआ।

मैं अपना सार्थ लेकर चम्पा की ओर आ रहा था तो सेठ धनंजय ने उसे मेरे साथ भेज दिया। मैं उन दोनों माता-पुत्रों को लेकर आ रहा था कि मार्ग में शिववर्द्धन नगर के बाहर विश्राम के लिए रुका।

शिववर्द्धन नगर का राजा प्रव्रजित हो गया था। सिंहासन रिक्त था। मंत्रियों ने अचानक आकर कुमार कुसुमायुध का राज्याभिषेक कर दिया।

समीप के अवन्ती नरेश राजशेखर ने उन पर आक्रमण कर दिया है। शिववर्द्धन नगर की सैन्य शक्ति दुर्बल है और जो कुछ है भी वह बिना राजा के कुछ कर नहीं सकती। मंत्रियों ने रक्षार्थ नगर के द्वार बन्द कर लिए और मैं द्रुतगति से आपको समाचार

देने चला आया।

महाराज ! प्रियमती को मैंने भी अपनी धर्मपुत्र मान है। अब उसकी रक्षा आपके हाथ में है। न जाने वे किस दशा में होंगे ?

यह कहकर सार्थवाह चुप हो गया। उसके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट थी।

राजा के दृष्टि पटल पर निमित्तज्ञों की भविष्य वाणी घूम गई—**कुमार का शिशुवय में ही राज्याभिषेक होगा। माता-पिता का कोई अरिष्ट न होगा। कुछ समय के लिए वियोग अनिवार्य है।** प्रियमती की सूरत राजा की आँखों के सामने नाचने लगी।

सैन्त सहित जय राजा शिववर्द्धनपुर की ओर तीव्रवेग से चल दिया।

अवन्तिनरेश राजशेखर के दूतों ने खबर दी कि बलशाली चम्पानरेश जय सैन्य सहित चला जा रहा है। चम्पा शिववर्द्धन नगर की भाँति न तो दुर्बल राज्य था और न ही राजा विहीन। राजशेखर चम्पा की शक्ति और जय राजा के पराक्रम को भली-भाँति जानता था। चम्पा की शक्ति से टकरानी-साक्षात् काल को निमंत्रण देना था।

वह आगे बढ़ा और चम्पा नरेश राजा जय से क्षमा माँगते हुए बोला—राजन्! मुझे मालूम नहीं था कि वह बाल राजा आपका ही पुत्र है—अन्यथा मैं कभी आक्रमण नहीं करता। अब आप रोष को त्याग दें और मुझे मित्र समझें।

राजा जय पराक्रमी अवश्य था किन्तु युद्ध-पिपासु नहीं। उसने भी राजशेखर का मित्रता हेतु बड़ा हुआ हाथ थाम लिया।

दोनों राजा मित्र हो गये।

राजा जय पराक्रमी अवश्य था किन्तु युद्ध-पिपासु नहीं। उसने भी राजशेखर का मित्रता हेतु बड़ा हुआ हाथ थाम लिया। दोनों मित्र हो गये।

प्रियमती के पिता को भी पुत्री की विपत्ति का ज्ञान हो गया था। ये भी सैन्य सहित आये थे—राजशेखर को दण्ड देने। किन्तु यहाँ तो वातावरण ही बदल गया था। राजशेखर मित्र बन गया था। वे भी इस प्रसन्नता में सम्मिलित हो गये।

नगर के द्वार खुले। तीनों राजाओं ने प्रवेश किया। नगर का नया नाम रखा गया—राज संयम नगर और राजा बना शिशु कुसुमायुध।

प्रियमती के पिता और अवन्तिनरेश राजशेखर तो चले गये किन्तु चम्पानरेश राजा जय वहीं ठहर गये। वे कैसे जाते? उनके तो प्राण ही वहाँ थे।

राजा जय अपनी प्रिया प्रियमती से मिले और प्रियमती प्राणपति से। वियोग की ज्वाला शांत हुई—मिलन का स्नेह बरसने लगा।

सुख का काल बड़ा छोटा लगता है। वक्त जाते देर नहीं लगती। शिशु कुसुमायुध युवा हो गया। अवन्तिनरेश राजशेखर ने अपनी बत्तीस पुत्रियों से उसका विवाह कर दिया।

एक बार गुणसागर केवली भगवान शिववर्द्धन नगर के बाहर उद्यान में पधारे। जय आदि अनेक राजा उनकी देशना सुनने हेतु गये। भगवान् को देशना से प्रभावित होकर जय राजा को

वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने चम्पा का राज्य भी पुत्र कुसुमायुध को दिया और स्वयं दीक्षा धारण करली। उसके साथ अन्य अनेक राजा भी प्रव्रजित हो गये।

कुसुमायुध राजा की पटरानी कुसुमावलि के गर्भ में जयसुन्दर का जीव विजय विमान से च्यवकर अवतरित हुआ। रानी कुसुमावली ने सिंह का स्वरूप देखा।

गर्भकाल समाप्त होने पर पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया—कुसुमकेतु।

रूप, गुण और कला में बढ़ते हुए कुसुमकेतु युवा हो गया।

कुसुमकेतु का विवाह भी बत्तीस कुलीन राजकन्याओं से हुआ।

पिता और पुत्र में अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम था। पुत्र पिता को देव के समान पूजा करता था। उसके लिए पिता के शब्द ईश्वरीय आदेश थे और पिता! वह भी पुत्र को अपनी अपनी आत्मा ही मानता था। सदा उसके सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहता।

कुसुमायुध अपने संपूर्ण राज्यकाल में धर्म की प्रभावना करता रहा। राज्य में प्रजा सभी भाँति सुखी थी। किसी प्रकार का अभाव नहीं था।

(क्रमशः)

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1. Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:
Vol - 1 (satakas 1- 2) Price : Rs. 150.00
Vol - 2 (satakas 3- 6) 150.00
Vol - 3 (satakas 7- 8) 150.00
Vol - 4 (satakas 9- 11) ISBN : 978-81-922334-0-6 150.00
2. James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates Price : Rs. 100.00
(It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)
3. P. C. Samsukha - Essence of Jainism Price : Rs. 15.00
ISBN : 978-81-922334-4-4
4. Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord, Price : Rs. 50.00
ISBN : 978-81-922334-7-5
5. Verses from Cidananda
Translated by Ganesh Lalwani Price : Rs. 15.00
6. Ganesh Lalwani - Jainthology Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-2-0
7. Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-3-7
8. Prof. S. R. Banerjee
Jainism in Different States of India Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-5-1
9. Prof. S. R. Banerjee
Introducing Jainism ISBN : 978-81-922334-6-8 Price : Rs. 30.00
10. Smt. Lata Bothra- The Harmony Within Price : Rs. 100.00
11. Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira Price : Rs. 100.00
12. Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity Price : Rs. 100.00

Hindi :

1. Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) ISBN : 978-81-922334-1-3
Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 20.00
3. Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 30.00
4. Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 50.00
5. Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira Price : Rs. 60.00

6. Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat, Price : Rs. 45.00
7. Ganesh Lalwani -- Panchdasi. Price : Rs. 100.00
8. Rajkumari Begani-Yado ke Aine me. Price : Rs. 30.00
9. Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra Price : Rs. 15.00
10. Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm Price : Rs. 24.00
11. Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika Price : Rs. 20.00
12. Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad Price : Rs. 250.00
ISBN : 978-81-922334-8-2
13. Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra Price : Rs. 50.00
14. Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan Price : Rs. 50.00
15. Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal Price : Rs. 250.00
ISBN : 978-81-922334-9-9
16. Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh Price : Rs. 50.00

Bengali :

1. Ganesh Lalwani-Atimukta, Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita Price : Rs. 20.00
3. Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma. Price : Rs. 15.00
4. Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma Price : Rs. 20.00
5. Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra Price : Rs. 25.00
6. Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita Price : Rs. 20.00
7. Sri Yudhishtir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti Price : Rs. 20.00

Some Other Publications :

1. Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir Price : Rs. 15.00
2. Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan Price : Rs. 10.00
3. Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma Price : Rs. 100.00
4. Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali) Price : Rs.
5. Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali) Price : Rs. 50.00
6. K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira Price : Rs. 25.00

इसके अलावा जैन धर्म से सम्बन्धित अन्य तीन पत्रिकाएँ :

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिका	वार्षिक	500.00
ISSN 0021 - 4043	(आजीवन)	5000.00
हिन्दी मासिक पत्रिका	वार्षिक	500.00
ISSN 2277 - 7865	(आजीवन)	5000.00
बंगला मासिक पत्रिका	वार्षिक	200.00
ISSN : 0975 - 8550	(आजीवन)	2000.00